केदारनाथ सिंह

तत्सम के पड़ोस में तद्भव

जितेन्द्र श्रीवास्तव

हिंदी कविता की कई पीढ़ियों को प्रभावित और संस्कारित करने वाले केदारनाथ सिंह (7 जुलाई, 1934–19 मार्च, 2018) ने असंदिग्ध-प्रतिबद्धता के कवि के रूप में सदैव सर्जक के प्रतिपक्ष की नुमाइंदगी की। दूसरी तरफ़ एक ऐसे समय में जबकि समकालीन हिंदी कविता में काव्य-तत्त्व और जीवन की गझिन समझ का लोप हो रहा है, उनकी कविताओं से गुज़रना जीवन और समाज के कई-कई कोणों से गुज़रने जैसा है।

I

केदारनाथ सिंह की कविताओं में विद्रोह के कई रूप हैं। वे 'वस्तु' और 'निष्प्राण' मान ली गयी चीज़ों की चेतना को रेखांकित करते हैं। यह 'अति-साधारण' के प्रति निष्ठा का प्रमाण है। उनकी कविताएँ उन चीज़ों और संवेदनाओं का पुनराविष्कार करती हैं जो हमारे जीवन में गहरे शामिल हैं, लेकिन जिन्हें हम भूल गये हैं। 'कपास' के फूलों पर कविता लिखते हुए वे उन पक्षों पर विचार करते हैं, जिन पर किसी की दृष्टि लगभग जाती ही नहीं। कविता की आरम्भिक पंक्तियाँ हैं :

> वे देवता को पसंद नहीं / लेकिन आश्चर्य इस पर नहीं
> आश्चर्य तो ये है कि कविगण भी /लिखते नहीं कविता कपास के फूल पर
> प्रेमी जन भेंट में देते नहीं उसे / कभी एक-दूसरे को
> जबकि वह है कि नंगा होने से / बचाता है सबको
> और सुतर गया मौसम / तो भूख और प्यास से भी
> बचाता है वह / ईश्वर को तो ठण्ड लगती नहीं
> वैसे नंगा होना भी / वहाँ उतना ही सहज है
> उतना ही दिव्य / इसलिए इतना तय है कि ठण्ड के विरुद्ध
> आदमी ने ही खोजा होगा / पृथ्वी पर पहला कपास का फूल।

जो खो रहा है लेकिन जिसे हर हाल में बचना चाहिए, केदारनाथ सिंह की कविताएँ अपनी पूरी सामर्थ्य से उसके साथ और उसके पक्ष में खड़ी हैं। वे पृथ्वी से उसके घर का पता पूछते हुए घास के पास जाते हैं, उसकी परेशानी को समझने की कोशिश करते हुए अपने समय की सबसे ज़रूरी इबारत लिखते हैं :

कभी-कभी लगता है / और पिछले कुछ समय से
कुछ ज़्यादा ही लगता है / कि आदमी के जनतंत्र में
घास के सवाल पर / होनी चाहिए लम्बी एक अखण्ड बहस
पर जब तक वह न हो / शुरुआत के तौर पर मैं घोषित करता हूँ
कि अगले चुनाव में / मैं घास के पक्ष में
मतदान करूँगा / कोई चुने या न चुने
एक छोटी-सी पत्ती का बैनर उठाए हुए / वह तो हमेशा मैदान में है!

यही एक सर्जक का प्रतिपक्ष है। कविता का श्लाघ्य सौंदर्य-बोध।

II

दुनिया में तीन तरह के कवि होते हैं। एक, जो उधार की सम्पदा पर अपने जन्मकाल से ही वैश्विक होते हैं। दो, जो सिर्फ़ स्थानीय होते हैं और उसी के साथ बीत जाते हैं। तीन, जो स्थानीयता के महत्त्व के साथ वैश्विक भाव-बोध से भरे होते हैं। इस तीसरे ढंग के कवि ही हर भाषा में पहली पंक्ति के कवि माने जाते हैं। हिंदी में इस तीसरे ढंग की व्याख्या के लिए केदारनाथ सिंह की कविताएँ विश्वसनीय आधार-सामग्री का कार्य करती हैं।

एक कवि के पूरे जीवन में कुछ कविताएँ ऐसी होती हैं जिनका महत्त्व उस कवि के लिए जितना होता है, उतना ही उस भाषा के लिए भी जिसमें वह कवि सम्भव हुआ होता है। केदारनाथ सिंह के लम्बे कवि-जीवन में ऐसी कई कविताएँ हैं। इन्हीं में एक है 'मंच और मचान'। कविता के आरम्भ में एक छोटी-सी टिप्पणी है जो कविता के प्रवेश-द्वार की तरह है। बड़े फ़लक वाली यह कविता यहीं से खुलने लगती है। एक चीनी बौद्ध भिक्षु के बहाने यह कविता मनुष्य, मनुष्यता, घर और 'राजनीति की अँधेरी गलियों' तक अकथ और अथक आवाजाही सम्पन्न करती है। कह सकते हैं कि 'मंच और मचान' कविता एक विशेष कालखण्ड का काव्यात्मक दस्तावेज़ है। कवि ने चीना बाबा का जो परिचय दिया है उसमें जितनी कविता है, उतनी ही जीवन की आभा :

पत्तों की तरह बोलते / और तने की तरह चुप
एक ठिंगने से चीनी भिक्खु थे वे / जिन्हें उस जनपद के लोग कहते थे
चीना बाबा / कब आये थे वे रामाभार स्तूप पर
यह कोई नहीं जानता था / पर जानना ज़रूरी भी नहीं था
उनके लिए तो बस इतना ही बहुत था / कि वहाँ स्तूप पर खड़ा है
चिड़ियों से जगर-मगर एक युवा बरगद / बरगद पर मचान है
और मचान पर रहते हैं वे / जाने कितने समय से।

आगे इस कविता में प्रधानमंत्री का ज़िक्र आया है :

प्रधानमंत्री! / खिल गये लोग
जैसे कुछ मिल गया हो सुबह-सुबह / पर कैसी विडम्बना
कि वे जो लोग थे / सिर्फ़ नेहरू को जानते थे
प्रधानमंत्री को नहीं!

आज हमारा लोकतंत्र जिन परिस्थितियों में है, उनमें नेहरू जैसे स्वप्नदर्शी और धर्मनिरपेक्ष अगुवा को याद करना उम्मीद के चिराग को जलाये रखना है। कविता में आगे नेहरू की उदासी का भी संदर्भ है। वह किसी 'प्रधानमंत्री' की नहीं, एक ईमानदार राष्ट्र-निर्माता की उदासी है। एक विकसित हो रहे

नवजात राष्ट्र का मुखिया अपनी आँखों का सपना दिखा सकता था, दम्भ से भरकर छप्पन इंच का सीना नहीं। नेहरू बनने के लिए धर्म के व्यापार की नहीं, आत्मा का पहरुआ होने की ज़रूरत है।

अपनी एक अन्य कविता 'अगर इस बस्ती से गुज़रो' में पितृसत्ता पर चोट करते हुए केदारनाथ सिंह कहते हैं :

थोड़ा आगे जाने पर / एक छोटा-सा जर्जर घर तुम्हें मिलेगा
कुछ समय पहले तक / उसमें एक बुढ़िया रहती थी
मर्दों की दुनिया से लड़ती-झगड़ती / एक निपट अकेली खुद्दार औरत
वह इस बस्ती की / सबसे दमदार आवाज़ थी
जरा सोचना इस पर / क्या यह सम्भव नहीं कि उस घर को
कर दिया जाए घोषित / एक राष्ट्रीय धरोहर।

जाहिर है, ये पंक्तियाँ सिर्फ़ संस्कृति-समीक्षा का उद्यम नहीं करतीं बल्कि ये एक नयी संस्कृति की प्रस्तावना भी तैयार करती हैं।

III

यह केदार ही हैं जो देख रहे हैं कि 'बोलियाँ अवाक हो रही हैं' और 'शब्द उड़े जा रहे हैं'। इन्हें बलपूर्वक पकड़ने की आवश्यकता है वरना अस्मिता खतरे में पड़ जाएगी। तब कुछ भी काम नहीं आएगा। चिल्लाने के लिए भी अपनी भाषा और उसकी त्वरा चाहिए। यह अकारण नहीं है कि भारत के सबसे आधुनिक माने जाने वाले ज्ञान के प्रतीक जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में हिंदी की स्थिति पर कविता लिखे बिना वे नहीं रह पाते। ज्ञान के सर्वथा आधुनिक केंद्रों में आम आदमी (जिसके कंधे पर अँगोछा हो और हाथ में गठरी) का प्रवेश वर्जित है। यदि वह प्रवेश कर गया तो हास्यास्पद हो जाएगा। उसकी भाषा चिल्ला उठेगी। केदारनाथ सिंह लिखते हैं :

और यह तो मैंने बाद में जाना / उसके चले जाने के काफ़ी देर बाद
कि जिस समय मैं चिल्ला रहा था / असल में मैं चुप था
जैसे सब चुप थे / और मेरी जगह यह मेरी हिंदी थी
जो भरे परिसर में / अकेली चिल्ला रही थी।

केदारनाथ सिंह की कविताओं में कहीं कोई ठहराव नहीं है। कोई छिपाव भी नहीं। वे अपनी कविताओं में किसी एक लीक पर नहीं चलते बल्कि बराबर नयी राह बनाते हैं। उनकी कविताओं में एक ऐसी अदृश्य बेचैनी है, जो धीरे-धीरे पाठक में समा जाती है। ऐसी कला जो जीवन में घुल जाती है। जिन लोगों को लगता है कि केदारनाथ सिंह सिर्फ़ सौंदर्य के कवि हैं, वे ऐसे लोग हैं जो या तो केदारनाथ सिंह की कविताएँ पढ़ते नहीं या कविता की इकहरी समझ से ग्रस्त हैं। केदारनाथ सिंह साधारण और खुरदुरा जीवन जी रहे लोगों के कवि हैं। वे आभिजात्य वर्ग के कवि किसी भी सूरत में नहीं हैं। सन् 1969 में ही उन्होंने अपनी एक छोटी सी कविता 'ऊँचाई' में लिखा था :

मेरे शहर के लोगो / यह कितना भयानक है
कि शहर की सारी सीढ़ियाँ मिल कर / जिस महान् ऊँचाई तक जाती हैं
वहाँ कोई नहीं रहता!

चुप्पी लोकतंत्र के लिए एक बड़ा ख़तरा है। हम एक ऐसे समय में हैं जब चुप्पी धीरे-धीरे एक धर्मनिरपेक्ष आचरण में बदलती जा रही है। जिधर देखिए लोग अपनी-अपनी चुप्पी में अपना भला ढूँढ़ रहे हैं। यह एक ऐसी समस्या है जिसे अलग-अलग कवि अलग-अलग दृष्टि से देखते और अभिव्यक्त करते हैं। केदारनाथ सिंह इसे बिल्कुल जुदा लेकिन बेहद प्रभावी ढंग से कविता में लाते हैं। 'चुप्पियाँ' शीर्षक कविता में जब इन पंक्तियों के साथ वे आते हैं, तब पाठक के भीतर कुछ टूटता है :

चुप्पियाँ बढ़ती जा रही हैं / उन सारी जगहों पर
जहाँ बोलना ज़रूरी था / बढ़ती जा रही हैं वे
जैसे बढ़ते हैं बाल / जैसे बढ़ते हैं नाख़ून
और आश्चर्य कि किसी को वह गड़ता नहीं।

'एक चुप्पी' एक व्यक्ति या परिवार को खाती है लेकिन 'चुप्पियाँ' अंततः एक राष्ट्र को गूँगा कर देती हैं। केदारनाथ सिंह की यह कविता बिना अतिरिक्त बोले हुए चुप्पियों के विरुद्ध आवाज़ उठाती हैं। एक बड़ा कवि (उस्ताद कवि) सिर्फ़ कविता नहीं लिखता, वह अपने बाद आने वाले कवियों के लिए सबक़ भी तैयार करता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि केदारनाथ सिंह की कविताएँ कविता भी हैं और कविता की पाठशाला भी।

एक कवि और चिंतक के रूप में केदारनाथ सिंह मातृभाषाओं के पक्षधर थे। उन्होंने जीवन भर अपनी कविताओं में भाषिक साम्राज्यवाद का प्रतिकार किया। 'भोजपुरी' पर लिखी उनकी कविताओं को इसी दृष्टि से देखना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि आर्थिक साम्राज्यवाद और भाषिक साम्राज्यवाद एक दूसरे के प्रबल पक्षधर और सहयोगी हैं। पूरी दुनिया में यदि आर्थिक साम्राज्यवाद के साथ-साथ भाषिक साम्राज्यवाद को सफलता मिल जाएगी तो तय है कि एक बड़ी आबादी मुँह में ज़ुबान के बावजूद गूँगी हो जाएगी। माँ के अंतिम संस्कार के बाद गंगा से निवेदन में कही गयी इन पंक्तियों में जो है, वह मात्र अपनी माँ के प्रति व्यक्त की गयी चिंता नहीं है बल्कि आने वाले एक बड़े ख़तरे का संकेतक है :

मैंने भागीरथी से कहा— / माँ,
माँ का ख़्याल रखना / उसे सिर्फ़ भोजपुरी आती है।

उनके संग्रह *सृष्टि पर पहरा* में 'भोजपुरी' शीर्षक से एक स्वतंत्र कविता ही है। इसी संग्रह में एक और कविता 'देश और घर' शीर्षक से है जिसमें दो भाषाओं में समानांतर जीवन जीने के सुख और द्वंद्व का प्रभावी अंकन है। 'देवनागरी' शीर्षक कविता में भाषा सिद्धांतों को धता बताते हुए जो जीवन राग विन्यस्त है, वह केदारनाथ सिंह की असल पहचान है। ऐसा जीवन राग गहरी सामाजिक संलग्नता की कोख से पैदा होता है।

केदारनाथ सिंह का लेखन बताता है कि वे भारतीय भाषाओं के बीच आवाजाही के समर्थक थे। वे हिंदी को प्यार करते थे लेकिन साथ ही अन्य भारतीय भाषाओं के प्रति गहरा अनुराग रखते थे। इस संग्रह में 'हिंदी' शीर्षक से एक कविता है जो मलयालय के सुप्रसिद्ध कवि के. सच्चिदानंदन को समर्पित है। यह समर्पण अपने आप में एक पूरा विचार है। 'अन्य' के प्रति आदर का सूचक है। यह कविता 'राजभाषा' के सरकारी खेल से पर्दा उठाती है। इसमें एक अनन्य हिंदी प्रेमी (जो हिंदी का बड़ा कवि भी है) लगभग आर्त्तनाद करते हुए कहता है :

मेरा अनुरोध है / भरे चौराहे पर करबद्ध अनुरोध
कि राज नहीं-भाषा / भाषा-भाषा सिर्फ़ भाषा रहने दो मेरी भाषा को
इसमें भरा है पास-पड़ोस / और दूर-दराज़ की इतनी ध्वनियों का
बूँद-बूँद अर्क / कि मैं जब भी उसे बोलता हूँ /
तो जैसे कहीं गहरे / अरबी-तुर्की बांग्ला तेलुगू
यहाँ तक कि एक पत्ती के हिलने की आवाज़ भी / मैं सब बोलता हूँ ज़रा-ज़रा
जब बोलता हूँ हिंदी / और जब भी बोलता हूँ / यही लगता है— / सारे व्याकरण में
एक कारक की बेचैनी हूँ / एक तद्भव का दुख / तत्सम के पड़ोस में।

केदारनाथ सिंह की रचनाशीलता का आरम्भ गीतों से हुआ था। यह अकारण नहीं है कि उनकी कविताएँ कविता की शर्त पर 'कविता' है। उन्हें बलात् कविता सिद्ध करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। उनकी कविताओं में गहरा अनुशासन विन्यस्त होता है लेकिन उनमें रूप और अंतर्वस्तु को अलगाकर

देखना असम्भव है। केदारनाथ सिंह में रूप का आग्रह है लेकिन अपनी पूर्णता में वे अंतर्वस्तु के सौंदर्य के कवि हैं। उनमें उनकी कविताओं से गुज़रते हुए सिर्फ़ विषय का चयन नहीं, शब्दों का चयन और भाषिक विन्यास भी देखना चाहिए। उनकी 'बाज़ार में आदिवासी' कविता हो या कैलाशपति निषाद, शुभनारायण शर्मा और निजामुद्दीन जैसे इस महादेश के साधारण लोगों को समर्पित 'जहाँ से अनहद शुरू होता है' शीर्षक कविता हो, उनकी असंदिग्ध प्रतिबद्धता अपने पाठकों का स्वागत करती मिलती है। उनकी कविताओं में महाकवि निराला की आवाज़ का स्मरण है तो 'आदमी और पशु के बीच पुल बने हीरा भाई' का भी स्मरण है, जिन्हें कोई नहीं जानता। यह याद रखने की बात है कि केदारनाथ सिंह मूलत: उन लोगों के कवि हैं जो दुनिया बनाते हैं लेकिन जिन्हें यह दुनिया न जानती है, न जानना चाहती है।

केदारनाथ सिंह के अब तक के अंतिम संग्रह *सृष्टि पर पहरा* में कई कविताएँ छंद में हैं और आख़िरी कविता में जीवन का छंद है। अमरता की पारम्परिक समझ और धारणा का प्रत्याख्यान करते हुए साधारण के औदात्य का गीत सुनाने वाला यह कवि धीरे से कहता है :

जाऊँगा कहाँ / रहूँगा यहीं / किसी किवाड़ पर / हाथ के निशान की तरह
पड़ा रहूँगा / किसी पुराने ताखे / या संदूक़ की गंध में / छिपा रहूँगा मैं
दबा रहूँगा किसी रजिस्टर में / अपने स्थायी पते के
अक्षरों के नीचे / या बन सका / तो ऊँची ढलानों पर / नमक ढोते खच्चरों की
घंटी बन जाऊँगा / या फिर माँझी के पुल की / कोई कील / जाऊँगा कहाँ
देखना / रहेगा सब जस का तस / सिर्फ़ मेरी दिनचर्या
बदल जाएगी / साँझ को जब लौटेंगे पक्षी
लौट आऊँगा मैं भी / सुबह जब उड़ेंगे / उड़ जाऊँगा उनके संग.....।

सचमुच केदारनाथ सिंह कहीं नहीं गये। जब तक हिंदी कविता का अस्तित्व रहेगा, केदारनाथ सिंह कहीं नहीं जाएँगे। उनकी कविताओं का होना मनुष्यधर्मी भरोसे का होना है।